

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 3 अध्याय 27: पदार्थ और आत्मा के भेद-ज्ञान द्वारा मुक्ति

13 September 2026

🙏 पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



जल कभी तरंगित हो जाता है, कभी शीतल — किन्तु उसमें पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब वास्तव में इनमें से किसी से भी स्पर्शित नहीं होता, वह केवल जल की दशा को साझा करता हुआ प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार, सुख-दुःख भोगते हुए शरीर में स्थित आत्मा भी, यथार्थतः, सदा अस्पृष्ट, अपरिवर्तनशील तथा मुक्त बनी रहती है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। हम अब कपिल-गीता के हृदय में गहराई से प्रवेश कर चुके हैं — वह शिक्षा जो भगवान् कपिल सरस्वती नदी के तट पर स्थित वन-आश्रम में अपनी माता देवहूति को दे रहे हैं। पिछले अध्याय ने चौबीस मूल तत्त्वों को क्रमशः विस्तार से समझाया था, और विराट पुरुष के उस दर्शन के साथ समाप्त हुआ जो कारण-जल से तभी उठे जब अन्तर्यामी उनके हृदय में प्रविष्ट हुए। अध्याय 27 उस विशाल ब्रह्माण्डीय मानचित्र से हटकर उस सबसे व्यावहारिक और सबसे कठिन प्रश्न की ओर मुड़ता है जिसके उत्तर के लिए सम्पूर्ण शिक्षा दी जा रही है: दिन-रात एक ऐसे शरीर से बँधा हुआ जीव, जिसे वह स्वयं समझ बैठा है, अन्ततः यह कैसे देखे — सचमुच देखे — कि वह कभी बँधा ही नहीं था? कपिल पहले शुद्ध तत्त्व-ज्ञान से उत्तर देते हैं: आत्मा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य-किरण के समान है, जो जिस वस्तु में प्रतिबिम्बित होती है उससे तनिक भी स्पर्शित नहीं होती। फिर देवहूति, सम्पूर्ण भागवत के सर्वाधिक सूक्ष्म-बुद्धि व्यवधानों में से एक में, एक सुदृढ़ तार्किक आपत्ति उठाती हैं। और उन्हें दिया गया कपिल का उत्तर अध्याय को उसी वचन के साथ समाप्त करता है जिसकी प्रतीक्षा इस शिक्षा का प्रत्येक साधक करता है: कि बन्धन, चाहे कितना भी पुराना हो, चाहे कितनी भी बार दोहराया गया हो, समाप्त किया जा सकता है — उसी अग्नि द्वारा भस्म होकर जिसे उसने स्वयं उत्पन्न किया।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 3 (तृतीय स्कन्ध)
- अध्याय: 27 (सप्तविंश अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: पदार्थ और आत्मा के भेद-ज्ञान द्वारा मुक्ति कैसे प्राप्त हो?
- मुख्य वक्ता: भगवान् कपिल, अपनी माता देवहूति को शिक्षा देते हुए; एक स्थान पर देवहूति स्वयं प्रत्यक्ष वाणी में हस्तक्षेप करती हैं (श्लोक 17–20), जिसके उत्तर में कपिल के अपने वचन ही अध्याय के समापन-भाग का निर्माण करते हैं (श्लोक 21–30)
- मुख्य श्रोता: देवहूति
- मुख्य स्थान: सरस्वती नदी के तट पर ऋषि कर्दम का आश्रम (कपिल-गीता के पूर्ववर्ती अध्यायों के समान ही स्थान)
- मुख्य विषय-वस्तु: जल में प्रतिबिम्बित सूर्य की तुलना में आत्मा की मूल अपरिवर्तनशीलता; भगवत्-साक्षात्कार-प्राप्त भक्त के गुण तथा साधनाएँ; “प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब” के रूप में अहंकार, जिसके माध्यम से आत्मा की झलक मिलती है; देवहूति की यह आपत्ति कि पदार्थ और आत्मा, नित्य-सहवर्ती होने के कारण, कभी वास्तव में पृथक् नहीं हो सकते; तथा कपिल का उत्तर, जो यह वर्णन करता है कि भक्ति किस प्रकार क्रमशः जीव पर प्रकृति की पकड़ को समाप्त करती है, तथा योग-सिद्धियों में आसक्ति के विरुद्ध अन्तिम चेतावनी के साथ समाप्त होता है
- मुख्य श्लोक-सीमा: स्कन्ध 3, अध्याय 27, श्लोक 1–30
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

जल में सूर्य: एक अस्पृष्ट आत्मा

अध्याय 27 केवल संक्षिप्ततम कथन-सूचक “श्रीभगवान् ने कहा” के साथ आरम्भ होता है — न कोई “मैत्रेय ने कहा”, न कोई दृश्य-वर्णन। कपिल केवल वहीं से आगे बढ़ रहे हैं जहाँ पिछला प्रवचन मध्य में छूट गया था।

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥

śrī-bhagavān uvāca prakṛti-stho 'pi puruṣo nājyate prākṛtair guṇaiḥ avikārād akartṛtvān nirguṇatvāj jalārkvat

अर्थ: प्रकृति द्वारा रचित शरीर में निवास करते हुए भी आत्मा प्रकृति के गुणों से कभी रंगी नहीं जाती — उसमें कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, वह स्वयं कोई कर्म नहीं करती, और प्रकृति के तीनों गुणों में से कोई भी उसका अपना स्वभाव नहीं बनता; इसी कारण वह ठीक उस सूर्य के समान है जो जल में प्रतिबिम्बित दिखाई देता है: दृश्य में उपस्थित, फिर भी उससे सर्वथा अस्पृष्ट। (श्रीमद्भागवतम् ३.२७.१)

भगवान् ने आगे कहा: जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित होते हुए भी सूर्य जल के गुणों (जैसे शीतलता, अस्थिरता आदि) से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार भौतिक शरीर में स्थित होते हुए भी आत्मा उसके सुखद और दुःखद अनुभवों से अप्रभावित रहती है, क्योंकि वह गुणरहित तथा कर्तृत्वरहित है, और इसलिए परिवर्तन से मुक्त है। (श्लोक 1)

आगे बढ़ने से पूर्व इस बिम्ब पर विचार करना उचित है, क्योंकि सम्पूर्ण अध्याय — वस्तुतः कपिल-गीता का अधिकांश भाग — इसी पर आधारित है। एक तालाब में तरंगें उठती हैं; उसमें प्रतिबिम्बित सूर्य भी मानो तरंगित होता प्रतीत होता है। जल शीतल हो जाता है; असावधान दृष्टि को प्रतिबिम्बित सूर्य भी मानो उसी शीतलता को साझा करता प्रतीत होता है। किन्तु सूर्य स्वयं, आकाश में दूर, न तो उस तरंग से स्पर्शित होता है और न उस शीतलता से। वह केवल इसलिए संलिप्त प्रतीत होता है क्योंकि वह जहाँ देखा जा रहा है वहाँ की परिस्थिति ऐसी है। यही, कपिल कहते हैं, पुरुष (आत्मा, वास्तविक स्व) तथा उस शरीर के बीच का सम्बन्ध है जिसमें वह निवास करती है। शरीर दुःख भोगता है, वृद्ध होता है, भूख अनुभव करता है, तथा अन्ततः मरता है; उसके भीतर स्थित आत्मा, यथार्थतः समझी जाए तो, इनमें से कुछ भी नहीं करती। वह केवल इसलिए दुःखी प्रतीत होती है क्योंकि उसे उस मन और शरीर के हिलते हुए जल के माध्यम से देखा जा रहा है, जिससे वह वास्तव में कभी सम्बद्ध ही नहीं थी।

बन्धन इतना वास्तविक क्यों प्रतीत होता है? कपिल के अगले श्लोक ठीक-ठीक बताते हैं कि यह भ्रम किस प्रकार उत्पन्न होता है:

किन्तु जब वह प्रकृति के गुणों से आसक्त हो जाता है, तब वह अहंकार से पूर्णतः मोहित होकर स्वयं को कर्ता समझने लगता है। (श्लोक 2) इस कर्तृत्व-भाव के कारण वह पदार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न कर्म (पुण्य और पाप के रूप में) के दोषों के माध्यम से अपनी शान्ति खो देता है, तथा असहाय होकर शुभ, अशुभ और मिश्रित प्रकार की योनियों में डाल दिया जाकर बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ता है। (श्लोक 3)

क्रम स्पष्ट है: गुणों के सम्पर्क से “मैं कर्ता हूँ” का मिथ्या भाव उत्पन्न होता है; यह मिथ्या भाव कर्म उत्पन्न करता है, चाहे शुभ हो या अशुभ; और कर्म उस कर्म के अनुरूप योनि में पुनर्जन्म उत्पन्न करता है। इनमें से कुछ भी आत्मा को स्वयं स्पर्श नहीं करता — किन्तु आत्मा, अपने स्वरूप को भूलकर, विश्वास कर लेती है कि यह सब उसी के साथ घट रहा है, और इसीलिए वह ऐसे दुःख भोगती है मानो यह सत्य हो। कपिल एक दूसरे बिम्ब से इस बात को और स्पष्ट करते हैं — स्वप्न का बिम्ब:

जिस प्रकार एक स्वप्न देखने वाला व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है — यद्यपि उसका कोई वास्तविक कारण नहीं होता — (क्योंकि वह स्वप्न में देखी गई वस्तुओं को वास्तविक मान लेता है), उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयों में लीन रहने वाले मनुष्य के लिए जन्म-मृत्यु का चक्र नहीं रुकता, यद्यपि वे विषय वास्तव में अस्तित्व में नहीं होते। (श्लोक 4)

गहरी निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति यह स्वप्न देख सकता है कि उसका पीछा किया जा रहा है, या वह डूब रहा है, या किसी क्षति का शोक मना रहा है, और जागने पर सचमुच विचलित होकर उठता है — हृदय तेज़ी से धड़कता हुआ, सम्भवतः आँसुओं सहित — यद्यपि स्वप्न में जो कुछ भी घटा, वह उसके जाग्रत शरीर के साथ वास्तव में कभी नहीं घटा। कपिल के अनुसार, जागृत संसार में इन्द्रिय-विषयों के पीछे भागना भी प्रकार में इससे भिन्न नहीं, केवल परिमाण और अवधि में भिन्न है। कपिल जो उपाय बताते हैं वह विशिष्ट रूप से प्रत्यक्ष है: “अतः, भक्ति के सतत अभ्यास तथा वैराग्य के माध्यम से मनुष्य को क्रमशः अपने उस मन को वश में करना चाहिए जो इन्द्रिय-विषयों की खोज का व्यसनी हो चुका है।” (श्लोक 5) बलपूर्वक दमन नहीं, अपितु एक क्रमिक, अनुशासित पुनर्निर्देशन — भक्ति और वैराग्य साथ मिलकर कार्य करते हुए।



जिस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति एक ऐसे शोक से विचलित होकर जागता है जिसका कोई वास्तविक कारण नहीं था, उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयों में लीन आत्मा एक ऐसे बन्धन का दुःख भोगती है जो, सही ढंग से देखा जाए तो, कभी वास्तविक था ही नहीं (श्लोक 4)।

भगवत्-साक्षात्कार-प्राप्त भक्त का चित्रण

श्लोक 6 से 11 तक गीता प्रेस के अंग्रेज़ी संस्करण में एक ही सतत वाक्य के रूप में प्रस्तुत हैं — एक ही विस्तृत चित्रण, एक-एक करके निर्मित, कि साक्षात्कार-प्राप्त भक्त का जीवन वास्तव में व्यवहार में कैसा दिखता है। इसे धीरे-धीरे पढ़ना उचित है, क्योंकि यह नियमों की सूची से अधिक एक विशेष प्रकार की सजगता का वर्णन है:

यम (अहिंसा आदि के रूप में आत्म-संयम) तथा योग के अन्य मार्गों के माध्यम से श्रद्धापूर्वक मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते हुए, जिसने मेरे प्रति सच्ची भक्ति के माध्यम से तथा मेरी कथाओं को सुनकर, सभी प्राणियों के प्रति समभाव तथा किसी के प्रति भी शत्रुता या आसक्ति के अभाव द्वारा, ब्रह्मचर्य का पालन करके तथा मौन-व्रत का पालन करके, तथा भगवान् को समर्पण की भावना से अपने कर्तव्य के प्रति समर्पित होकर, प्रकृति से भिन्न आत्मा को साक्षात्कार किया है; जो संयोग से जो कुछ प्राप्त हो (ईश्वर की व्यवस्था के रूप में) उसी से सन्तुष्ट रहता है तथा परिमित मात्रा में भोजन करता है, सदैव ध्यान में लीन रहता है, एकान्त में निवास करता है, तथा शान्त, संयत, सबके प्रति मैत्रीपूर्ण, करुणामय तथा आत्म-संयत रहता है; नहीं, पदार्थ तथा आत्मा दोनों की वास्तविकता की प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त ज्ञान के बल पर, जो अपने आपको शरीर के साथ पहचानना तथा उससे जुड़ी वस्तुओं को अपना मानना छोड़ देता है, जो चेतना की तीन अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति) से परे चला जाता है, और इसलिए भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता — ऐसा मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि से अपने वास्तविक

आत्मा को उसी प्रकार देख पाता है जैसे कोई अपनी आँखों से सूर्य को देखता है, तथा (तत्काल) उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है जो एक और अद्वितीय है, जो सभी उपाधियों (जैसे शरीर) से मुक्त है, जो मिथ्या अहंकार के माध्यम से एकमात्र सत्य के रूप में प्रकाशित होता है, जो प्रकृति (जगत् का भौतिक कारण) का आधार है, नहीं, जो महत्तत्त्व तथा अन्य विकारों को प्रकट करता है तथा कारण और कार्य — दोनों में व्याप्त है। (श्लोक 6-11)

ध्यान दें कि यह अंश अनुशासनों से आरम्भ होता है — आत्म-संयम, भगवान् की कथाएँ सुनना, समभाव, सन्तोष, परिमित भोजन, एकान्तवास — और साक्षात्कार के वास्तविक क्षण तक केवल इस सम्पूर्ण जीवन-पद्धति का वर्णन करने के पश्चात् ही पहुँचता है — वह क्षण जब साधक विशुद्ध हो चुकी बुद्धि के सहारे अपने ही सच्चे स्व को उसी तरह प्रत्यक्ष निहार लेता है जिस तरह आँखें सूर्य को निहारती हैं। सूर्य को प्रत्यक्ष देखने की, न कि उसके प्रतिबिम्ब को, यह तुलना श्लोक 1 की जान-बूझकर की गई पुनरावृत्ति है: यहाँ वर्णित सम्पूर्ण अनुशासन और कुछ नहीं, केवल ध्यान को जल के तरंगित प्रतिबिम्ब से हटाकर सूर्य की ओर मोड़ने का धीमा कार्य है।

अहंकार: एक प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब

भक्त के साक्षात्कार का वर्णन करने के पश्चात्, कपिल एक अधिक सूक्ष्म प्रश्न की ओर मुड़ते हैं — आत्मा की झलक वास्तव में कैसे मिलती है, जबकि उसका न कोई आकार है, न रंग, न कुछ ऐसा जिसे आँख या मन प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण कर सके? उनका उत्तर एक और दृष्टि-सम्बन्धी बिम्ब है, जो पहले से कहीं अधिक जटिल है:

जिस प्रकार किसी घर के कोने में रखे एक पात्र के जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब उस प्रतिबिम्ब के घर की दीवार पर पड़े प्रतिबिम्ब की सहायता से (घर में रहने वालों द्वारा) खोजा जाता है, तथा आकाश का सूर्य जल में अपने ही प्रतिबिम्ब की सहायता से देखा जा सकता है, उसी प्रकार त्रिविध (सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक) अहंकार (जो आत्मा को प्रतिबिम्बित करता है) शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर पड़ने वाले अपने प्रतिबिम्बों के माध्यम से प्रकट होता है; तथा उस अहंकार के माध्यम से, जिसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब समाहित है, वह भगवान् देखा जाता है, जो सच्चे ज्ञान से सम्पन्न, अहंकार से पूर्णतः मुक्त तथा जाग्रत रहता है, तब भी जब सूक्ष्म तत्त्व (ध्वनि आदि के रूप में), इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आदि निद्रा (गहरी सुषुप्ति की अवस्था) के कारण अव्यक्त (मूल प्रकृति) में विलीन हो जाते हैं। (श्लोक 12-14)

यह वास्तव में एक अत्यन्त प्रभावशाली बिम्ब है: किसी कमरे के अन्धकारमय कोने में रखे जल के पात्र में सूर्य-किरण पकड़ी जाती है, वह पुनः दीवार पर परावर्तित होती है, जिससे कमरे में प्रवेश करने वाला व्यक्ति दीवार के प्लास्टर पर सूर्य के प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब को नाचता हुआ देखता है — और उसी क्षीण, दुगुनी दूरी की झलक से, वह जान जाता है कि सूर्य स्वयं बाहर आकाश में विद्यमान है। इसी प्रकार, कपिल कहते हैं, अहंकार (अपने तीन गुणात्मक रूपों में) स्वयं आत्मा का एक प्रतिबिम्ब है; तथा शरीर, इन्द्रियाँ, तथा मन, बदले में, अहंकार द्वारा डाले गए प्रतिबिम्ब हैं। हम आत्मा को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखते। हम उसे केवल इस स्तरित प्रतिबिम्बों की श्रृंखला के माध्यम से ही देखते हैं — फिर भी उसी श्रृंखला के माध्यम से, सही ढंग से पीछे की ओर देखने पर, आत्मा (और उसके पीछे, भगवान्) का अस्तित्व निश्चयपूर्वक जाना जा सकता है। अध्याय एक और अत्यन्त मानवीय विवरण जोड़ता है: गहरी स्वप्नरहित निद्रा में भी, जब अहंकार, मन तथा इन्द्रियाँ सब प्रकृति की अव्यक्त अवस्था में विलीन हो जाते हैं, एक वस्तु विलीन नहीं होती — मूल आत्मा, साक्षी, जो सब कुछ के बीच भी “जाग्रत रहता है”।

कपिल इस अंश को उस श्लोक के साथ समाप्त करते हैं जो शायद अध्याय का सर्वाधिक सान्त्वनादायक श्लोक है, उस किसी के लिए भी जो कभी गहरी निद्रा से जागकर यह अजीब, क्षणिक भाव अनुभव कर चुका हो कि वह कौन है या कहाँ है:

यद्यपि (जाग्रत जीवन में) आत्मा का अस्तित्व द्रष्टा (ध्वनि आदि विषयों के) के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है, फिर भी वह गहरी निद्रा की अवस्था में अहंकार (जो उसकी उपाधि है) के लुप्त हो जाने के कारण स्वयं को खोया हुआ मान लेता है, यद्यपि वह खोया नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे धन खो देने वाला व्यक्ति दुःखी होकर स्वयं को खोया हुआ मान लेता है। (श्लोक 15) इस प्रकार विचार करते हुए, बुद्धिमान् मनुष्य अपने ही आत्मा को साक्षात्कार करता है, जो अहंकार सहित समस्त मूल तत्त्वों का आधार और प्रकाशक है। (श्लोक 16)

धन खो देने वाले व्यक्ति की तुलना सरल प्रतीत होती है किन्तु अत्यन्त सटीक है: दिवालिया व्यक्ति केवल इसलिए अस्तित्वहीन नहीं हो जाता कि उसका धन समाप्त हो गया — वह केवल यह अनुभव करता है कि उसका सम्पूर्ण अस्तित्व मानो उसके बैंक-खाते के साथ ही सिकुड़ गया हो। ठीक उसी प्रकार, आत्मा गहरी निद्रा में केवल इसलिए विलुप्त नहीं होती कि उसका साधन, अहंकार, अस्थायी रूप से शान्त हो गया है। निद्रा में या किसी भी क्षण के भ्रम में “स्वयं को खो देने” का भाव स्वयं ही वह सूत्र है — सही ढंग से जाँचे जाने पर, यह सीधे उसी आत्मा की ओर संकेत करता है जो वास्तव में कभी खोई ही नहीं थी।



जिस प्रकार किसी घर के निवासी बाहर के सूर्य को उसके दुगुने प्रतिबिम्ब से खोजते हैं — पहले जल के पात्र में, फिर दीवार पर — उसी प्रकार आत्मा केवल अहंकार, इन्द्रियों तथा मन के स्तरित प्रतिबिम्बों के माध्यम से ही जानी जाती है (श्लोक 12-14)।

देवहूति का प्रश्न: क्या पदार्थ और आत्मा कभी वास्तव में पृथक् हो सकते हैं?

यहीं अध्याय अपना सर्वाधिक स्मरणीय मोड़ लेता है। देवहूति, जो अपने दिव्य पुत्र की शिक्षा को स्पष्ट सजगता से सुन रही हैं, उस अपरिवर्तनशील, सदा-मुक्त आत्मा के सिद्धान्त को सरलता से स्वीकार नहीं करतीं। वे एक वास्तविक दार्शनिक कठिनाई उठाती हैं — जिसे इस शिक्षा का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने वाला कोई भी व्यक्ति किसी न किसी क्षण अनुभव कर सकता है:

देवहूति ने कहा: हे दिव्य ऋषि, पदार्थ आत्मा को कभी नहीं छोड़ सकता, क्योंकि दोनों परस्पर-आश्रित तथा नित्य-सहवर्ती हैं, हे भगवन्। (श्लोक 17) जिस प्रकार गन्ध और पृथ्वी, तथा (उसी प्रकार) स्वाद और जल कभी पृथक् नहीं रह सकते, उसी प्रकार बुद्धि (जो पदार्थ का विकार है) और आत्मा कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते। (श्लोक 18) अतः जब तक प्रकृति के गुण — जो अकर्ता आत्मा को कर्मों से बाँधते हैं —

विद्यमान रहते हैं, तब तक आत्मा के लिए किस प्रकार कोई मुक्ति सम्भव है? (श्लोक 19) यद्यपि किसी विशेष स्थिति में मूल तत्त्वों की (प्रकृति की) जाँच के माध्यम से ऐसे बन्धन का महान् भय दूर भी कर दिया जाए, तो भी वह पुनः प्रकट हो सकता है, क्योंकि उसका कारण (उपर्युक्त गुणों के रूप में) समाप्त नहीं हुआ है। (श्लोक 20)

यह एक सुदृढ़ आपत्ति है, जो उस व्यक्ति की सटीकता से प्रस्तुत की गई है जिसने अभी सिखाए गए तत्त्व-ज्ञान को वास्तव में आत्मसात् कर लिया है। यदि पृथ्वी और उसकी गन्ध, या जल और उसका स्वाद, एक ही द्रव्य के अविभाज्य गुण हैं — सिद्धान्ततः भी कभी पृथक् न पाए जाने वाले — तो देवहूति पूछती हैं कि पुरुष और प्रकृति (आत्मा और पदार्थ) कभी कैसे पृथक् किए जा सकते हैं, यदि शास्त्र स्वयं उन्हें “नित्य-सहवर्ती” कहता है? और यह मान भी लिया जाए कि अन्तर्दृष्टि का कोई क्षण अस्थायी रूप से बन्धन के भय को समाप्त कर सकता है, तो क्या रोकता है गुणों को — जो स्वयं नष्ट नहीं किए गए हैं — कि वे बाद में फिर से अपनी पकड़ न जमा लें? यह वास्तव में उस प्राचीन दार्शनिक चिन्ता का ही रूप है कि मुक्ति, यदि वह वास्तव में सत्य है, तो स्थायी और सम्पूर्ण होनी चाहिए, न कि कोई नाजुक सन्धि जो पुनः टूट सकती हो। एक माता अपने ही पुत्र की शिक्षा पर प्रश्न उठा रही है, तथा एक भक्त उस दर्शन के गहनतम आधार पर प्रश्न उठा रही है जो उसे दी जा रही है — दोनों ही इन चार श्लोकों में उपस्थित हैं, और यह भागवत के उन क्षणों में से एक है जहाँ पाठक सबसे स्पष्ट रूप से अनुभव करता है कि यह ग्रन्थ अपने श्रोता से केवल ग्रहण करने की नहीं, अपितु विचार करने की अपेक्षा रखता है।



देवहूति अपने दिव्य पुत्र के समक्ष एक सुविचारित दार्शनिक आपत्ति उठाती हैं: यदि पदार्थ और आत्मा उतने ही अविभाज्य हैं जितने पृथ्वी और उसकी अपनी सुगन्ध, तो आत्मा कभी वास्तव में कैसे मुक्त हो सकती है (श्लोक 17-20)?

कपिल का उत्तर: अपने ही ईंधन को भस्म करती अग्नि

कपिल का उत्तर, जो अध्याय को समाप्त करता है, इस आपत्ति को नकारता नहीं — वह इसका प्रत्यक्ष उत्तर देता है, और कपिल-गीता के सम्पूर्ण भाग में सर्वाधिक स्मरणीय बिम्बों में से एक के साथ:

श्रीभगवानुवाच ।

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।

तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥ २१ ॥

śrī-bhagavān uvāca animitta-nimittena sva-dharmeṇāmalātmanā tīvrayā mayi bhaktyā ca śruta-sambhṛtayā ciram

अर्थ: भगवान् ने उत्तर दिया — वह गहन भक्ति ही है, जो दीर्घकाल तक मेरी कथाएँ सुनने से पुष्ट होती है तथा स्वार्थ के किसी भाव के बिना, शुद्ध हृदय से किए गए अपने ही कर्तव्य के साथ जुड़ी होती है, जो अकेले ही जीव पर प्रकृति की पकड़ को ढीला करना आरम्भ करती है। (श्रीमद्भागवतम् ३.२७.२१)

भगवान् ने उत्तर दिया: दिन-रात मेरे प्रति गहन भक्ति से आक्रान्त होकर — जो निष्काम भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए शुद्ध हृदय से दीर्घकाल तक मेरी कथाएँ सुनने से विकसित होती है — सत्य को देखने में समर्थ बनाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, पवित्र व्रतों तथा धार्मिक अनुष्ठानों के साथ ध्यान के अभ्यास से, तथा मन की सम्पूर्ण एकाग्रता से, आत्मा को बाँधने वाली प्रकृति क्रमशः दूर हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे अरणि-मन्थन द्वारा यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने में प्रयुक्त काष्ठ स्वयं उसी अग्नि द्वारा भस्म हो जाता है जिसे उसने उत्पन्न किया। (श्लोक 21-23)

यह बिम्ब देवहूति की आपत्ति का उत्तर लगभग उसी की अपनी शर्तों पर देता है। उन्होंने मूलतः पूछा था: यदि पदार्थ और आत्मा पृथ्वी और उसकी गन्ध के समान अविभाज्य हैं, तो एक को दूसरे से कभी कैसे मुक्त किया जा सकता है? कपिल का उत्तर यह है कि यह सम्बन्ध पृथ्वी और गन्ध के समान कोई स्थिर, स्थायी बन्धन है ही नहीं — यह एक प्रक्रिया है, अधिक-से-अधिक अग्नि और उस काष्ठ के समान जो उसे उत्पन्न करता है। दो काष्ठ-खण्ड आपस में रगड़े जाते हैं; घर्षण (जो अनुशासित आध्यात्मिक साधना का प्रतीक है) अग्नि उत्पन्न करता है; और वही अग्नि, एक बार प्रज्वलित हो जाने पर, उन्हीं काष्ठ-खण्डों को भस्म कर देती है जिन्होंने उसे सम्भव बनाया। काष्ठ-खण्ड अग्नि के उत्पन्न होने के लिए अपरिहार्य हैं — फिर भी अग्नि, एक बार प्रज्वलित होने पर, सदा उन पर आश्रित नहीं रहती; वह उन्हें पूर्णतः भस्म कर देती है। कपिल यह कह रहे हैं कि प्रकृति भी जीव के विकास में इसी प्रकार कार्य करती है: वह वही क्षेत्र है जिसमें आध्यात्मिक साधना घटित होती है, फिर भी सतत साधना — भक्ति, वैराग्य, ध्यान, भगवान् की कथाएँ सुनना — क्रमशः, श्लोक-दर-श्लोक, जन्म-दर-जन्म, प्रकृति की पकड़ को समाप्त कर देती है, जब तक कि बन्धन का कुछ भी शेष न रहे।

कपिल देवहूति के तात्त्विक प्रश्न का उत्तर एक तीखे तर्क से नहीं, अपितु एक भक्ति-साधना से क्यों देते हैं, इसका एक कारण है, और इसे स्पष्ट कह देना उचित है। केवल विश्लेषण — चाहे कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो — बन्धन को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि विश्लेषण उसके मूल कारण को स्पर्श ही नहीं करता: जीव की अपनी वह इच्छा जो प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहती है, तथा उससे भी सूक्ष्म वह ईर्ष्या जो भगवान् के एकमात्र आधिपत्य से असंतुष्ट रहती है (श्लोक 20)। इसलिए कपिल देवहूति को कोई अधिक सुदृढ़ प्रमाण नहीं देते; वे उसे एक साधना देते हैं — उनकी कथाएँ सुनना, स्वार्थरहित होकर कर्तव्य-पालन, ध्यान, वैराग्य — क्योंकि केवल सतत भक्ति ही उस मूल इच्छा को उसके आवश्यक पोषण से वंचित कर पाती है (श्लोक 21-23)। और यह भी, जैसा अध्याय अपने समापन में ही बल देकर कहता है, केवल “मेरी अपनी अपार कृपा से” ही घटित होता है (श्लोक 28-29): जीव न तो तर्क से और न ही ध्यान के बल से अपने बन्धन को समाप्त कर पाता है; वह भगवान् की कृपा द्वारा अपने घर की ओर खींचा जाता है, और अपनी ही भक्ति से उससे मिलता है।



जिस प्रकार अरणि-मन्थन द्वारा यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने में प्रयुक्त काष्ठ स्वयं उसी अग्नि द्वारा भस्म हो जाता है जिसे उसने उत्पन्न किया, उसी प्रकार भक्ति, वैराग्य तथा ध्यान क्रमशः जीव पर प्रकृति की पकड़ को समाप्त कर देते हैं (श्लोक 21-23)।

कपिल आगे बताते हैं कि जब यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तो क्या शेष रहता है:

सदा अनिष्ट का स्रोत मानी जाती हुई तथा भोग के पश्चात् त्यागी हुई प्रकृति उस आत्मा को अब कोई हानि नहीं पहुँचा सकती, जो अपनी महिमा (आनन्दमय स्वभाव) में सर्वोच्च स्थित है तथा अब पूर्णतः स्वतन्त्र है। (श्लोक 24) जिस प्रकार सोए हुए मनुष्य का स्वप्न अनेक अनिष्टों से भरा होता है, किन्तु जागने पर वह उसे मोहित नहीं कर पाता, उसी प्रकार प्रकृति उसे कभी हानि नहीं पहुँचा सकती जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है तथा जो सदा अपना मन मुझ पर स्थिर रखता है और (फलस्वरूप) अपने ही आत्मा में आनन्दित होता है। (श्लोक 25-26)

स्वप्न का बिम्ब यहाँ लौट आता है, किन्तु रूपान्तरित होकर — अब यह आत्मा के दुःख (श्लोक 4 के समान) का नहीं, अपितु उसकी अन्तिम प्रतिरक्षा का वर्णन करता है। डूबने के दुःस्वप्न से जागा हुआ व्यक्ति जागने पर जल से नहीं डरता; स्वप्न का उस पर कोई प्रभाव नहीं रहता क्योंकि अब वह जान चुका है कि वह क्या था। उसी प्रकार, मुक्त आत्मा किसी अमूर्त, भविष्य के अर्थ में ही प्रकृति के बन्धन से मुक्त नहीं है — प्रकृति सचमुच उसे स्पर्श ही नहीं कर सकती जो अपने ही स्वरूप के प्रति पूर्णतः जाग्रत हो चुका है।

अन्तिम मोक्ष तथा योग-सिद्धियों के विषय में चेतावनी

अध्याय के समापन-श्लोक इस यात्रा के अन्तिम चरणों का वर्णन एक दुर्लभ कोमलता के साथ करते हैं — आखिरकार, कपिल स्वयं अपनी माता को उनके अपने मोक्ष-मार्ग के विषय में सम्बोधित कर रहे हैं:

जब ध्यान में लीन मनुष्य (पूर्वोक्त रूप से) कई जन्मों तक आत्मा के ध्यान में लीन रहता है, तब उसे ब्रह्मलोक (सर्वोच्च स्वर्ग, ब्रह्मा का धाम) के भोगों तक की समस्त वस्तुओं से विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। (श्लोक 27)

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।

निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ २८ ॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशाच्छिन्नसंशयः ।

यद्वत्त्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ २९ ॥

*mad-bhaktaḥ pratibuddhārtho mat-prasādena bhūyasā niḥśreyasaṁ sva-saṁsthānaṁ
kaivalyākhyam mad-āśrayam prāpnotīhāñjasā dhīraḥ sva-dṛśā cchinna-saṁśayaḥ yad gatvā na
nivarteta yogī līṅgād vinirgame*

अर्थ: मेरी अपनी असीम कृपा से मेरा भक्त अपने वास्तविक स्वरूप को जागृत करता है, और इसी जीवन में, आत्म-दर्शन द्वारा प्रत्येक सन्देह को काटते हुए, अपने अन्तिम लक्ष्य तक — जिसे कैवल्य कहा जाता है, तथा जो सीधे मुझमें आश्रित है — स्थिरता से पहुँच जाता है; वहाँ पहुँचकर, सूक्ष्म और स्थूल शरीर को त्यागने के पश्चात्, ऐसा भक्त कभी लौटकर नहीं आता। (श्रीमद्भागवतम् ३.२७.२८-२९)

मेरी अपार कृपा से आत्मा का साक्षात्कार करके, वह दृढ़-मनस्क भक्त आत्म-दर्शन द्वारा अपने समस्त सन्देहों का समाधान पा लेता है, तथा अपने सूक्ष्म शरीर से मुक्त होकर उसी जीवन में सहजता से उस परम आनन्दमय अवस्था को प्राप्त कर लेता है जिसे अन्तिम मोक्ष कहा जाता है, जो उसका मूल स्वभाव है तथा जो मुझ पर आश्रित है, तथा जिसे प्राप्त करके योगी पुनः (जन्म-मृत्यु के चक्र में) कभी नहीं लौटता। (श्लोक 28-29)

दो विशेषताएँ स्मरणीय हैं। प्रथम, समय-सीमा का वर्णन प्रचारात्मक न होकर ईमानदार है: यह लीनता “कई जन्मों तक” फैली रहती है — भागवत यह दिखावा नहीं करता कि मुक्ति सामान्यतः एक ही जीवन के प्रयास से प्राप्त हो जाती है, यद्यपि वह यह भी दृढ़तापूर्वक कहता है कि लक्ष्य पूर्णतः प्राप्य है। द्वितीय, वर्णित पुरस्कार केवल दुःख से पलायन नहीं अपितु अपने “मूल स्वभाव” (स्वरूप) की पुनर्प्राप्ति है — मुक्ति आत्मा को किसी विदेशी स्थान पर नहीं ले जाती, अपितु उसे उसी में लौटा देती है जो वह सदा, वास्तव में थी।

अध्याय का अन्तिम श्लोक कपिल की माता को — और उनके पश्चात् प्रत्येक पाठक को — एक अन्तिम, व्यावहारिक चेतावनी देता है, ठीक उस बिन्दु पर जहाँ आध्यात्मिक जीवन में सफलता स्वयं ही सूक्ष्मतम फंदा बन जाती है:

यदा न योगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।

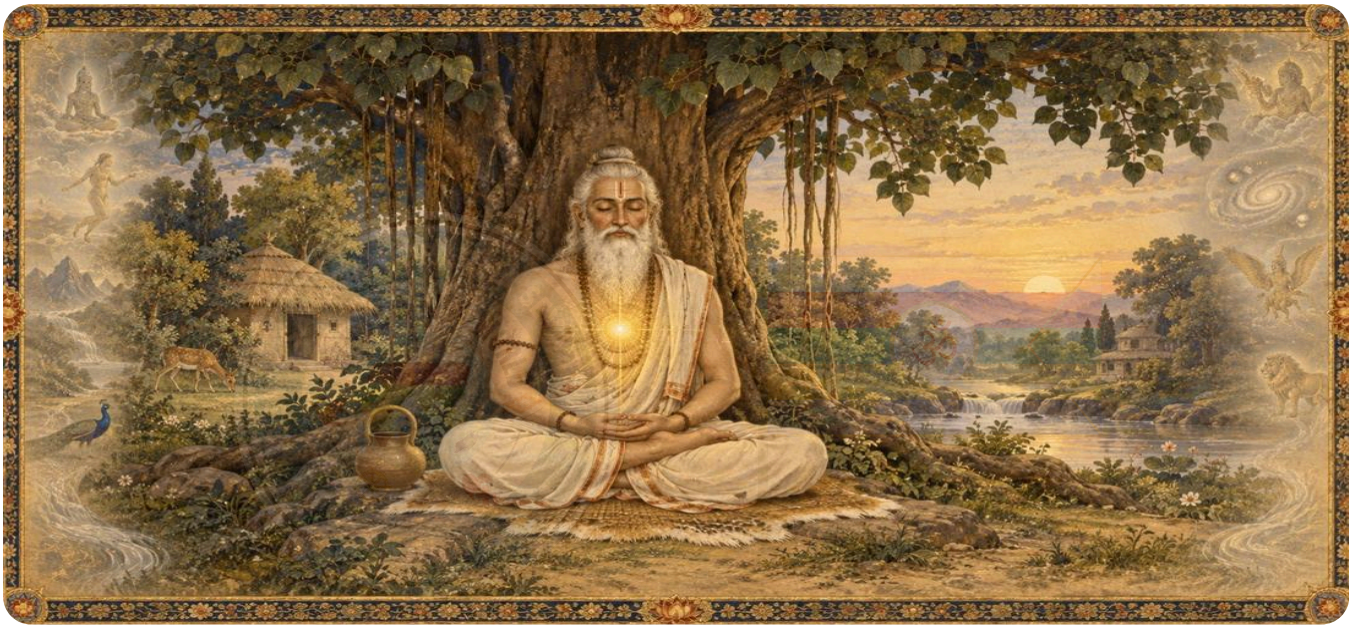
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद् आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ ३० ॥

*yadā na yogopacitāsu ceto māyāsu siddhasya viṣajjate ‘ṅga ananya-hetuṣv atha me gatiḥ syād
ātyantikī yatra na mṛtyu-hāsaḥ*

अर्थ: जब सिद्ध योगी का मन योग द्वारा उत्पन्न असाधारण शक्तियों से भी आसक्त नहीं रहता — जो अन्ततः मेरी ही मायिक शक्ति की उपज मात्र हैं — तब मेरी ओर उसकी गति निर्बाध तथा सम्पूर्ण हो जाती है, और वह उस अवस्था तक पहुँच जाता है जिसे स्वयं मृत्यु भी स्पर्श नहीं कर सकती। (श्रीमद्भागवतम् ३.२७.३०)

हे प्रिय माता, यदि सिद्ध योगी का मन योग (जो उन्हें प्राप्त करने का एकमात्र साधन है) के माध्यम से विकसित अतिमानवीय शक्तियों (जैसे अपने शरीर को परमाणु के आकार तक सिकोड़ने की क्षमता आदि, जो माया के उत्पाद हैं) से आसक्त नहीं होता, तो वह निश्चित रूप से मेरी अमर अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जहाँ मृत्यु की कोई शक्ति नहीं चलती। (श्लोक 30)

योग की आठ शास्त्रीय सिद्धियाँ — स्वयं को परमाणु के आकार तक सिकोड़ने, अपरिमित रूप से विशाल हो जाने, भार-रहित हो जाने, इच्छित वस्तु प्राप्त करने आदि की शक्ति — उन्नत साधना के वास्तविक तथा प्राप्य फल हैं, कपिल इसे नकारते नहीं। किन्तु वे अध्याय के अन्तिम शब्दों में ही इन्हें उस अन्तिम शेष खतरे के रूप में चिह्नित करते हैं जो अन्यथा पूर्ण हो चुके मार्ग पर बचा रहता है: वह साधक जो यहाँ तक पहुँच चुका है और फिर अपनी साधना द्वारा उत्पन्न शक्तियों से मोहित हो जाता है, उसने अग्नि के किनारे की राख को अग्नि ही समझ लिया है। केवल वही मन जो इनसे भी अनासक्त रहता है — जो मार्ग में आने वाले चमत्कारों की ओर नहीं, अपितु “उस अमर अवस्था, जहाँ मृत्यु की कोई शक्ति नहीं चलती” की ओर ही अपनी दृष्टि स्थिर रखता है — इस पूरे अध्याय द्वारा वर्णित यात्रा को पूर्ण करता है।



वह सिद्ध योगी, जिसका मन अपनी साधना द्वारा उत्पन्न चमत्कारों में नहीं उलझता, अपितु उस अमर अवस्था पर स्थिर रहता है जहाँ मृत्यु की कोई शक्ति नहीं चलती, इस अध्याय द्वारा वर्णित यात्रा को पूर्ण करता है (श्लोक 30)।

अध्याय का पुष्पिका-वाक्य प्रवचन को इस प्रकार समाप्त करता है: “इस प्रकार ‘भगवान् कपिल की कथा’ का यह सत्ताईसवाँ प्रवचन, महान् एवं गौरवशाली भागवत-पुराण के तृतीय स्कन्ध में समाप्त होता है, जिसे परमहंस-संहिता के नाम से भी जाना जाता है।”

चिन्तन: एक माता का प्रश्न, तथा प्रत्येक साधक की खोज

अध्याय 27 को इतना शान्त किन्तु प्रभावशाली बनाने वाली बात इसकी संरचना है: पहले तत्त्व-ज्ञान, फिर एक भक्त का ईमानदार सन्देह, तथा फिर एक ऐसा उत्तर जो केवल तत्त्व-ज्ञान को दोहराता नहीं अपितु स्वयं उस सन्देह के उत्तर में उसे और गहरा करता है। देवहूति की यह आपत्ति — कि पदार्थ और आत्मा अनादि काल से एक-दूसरे से बँधे रहने के कारण कदाचित् कभी सचमुच पृथक् न हो सकें — किसी माता द्वारा भ्रमवश पूछा गया मूर्खतापूर्ण प्रश्न नहीं है। यह वही प्रश्न है जिसका सामना अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है जो इस शिक्षा को गम्भीरता से लेता है: यदि बन्धन अनादि काल से विद्यमान रहा है, तो इसकी क्या गारण्टी है कि यह समाप्त हो सकता है? कपिल का उत्तर, अपने ही ईधन

को भस्म करती अग्नि का बिम्ब, कोई तार्किक प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता, अपितु यह वर्णन करता है कि सतत आध्यात्मिक साधना में वास्तव में क्या घटित होता है — वही प्रक्रिया जो प्रारम्भ में पदार्थ के साथ संलग्नता (अनुशासन, अनुष्ठान, भक्ति, ध्यान के माध्यम से) की अपेक्षा करती प्रतीत होती है, वही प्रक्रिया पदार्थ की पकड़ को समाप्त कर देती है, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्नि को आरम्भ करने के लिए काष्ठ की आवश्यकता होती है किन्तु उसे सदा जलते रहने के लिए काष्ठ की आवश्यकता नहीं रहती। तथा अध्याय के अन्तिम शब्द — उन्नत साधना के साथ प्राप्त अद्भुत शक्तियों के प्रति आसक्ति के विरुद्ध चेतावनी — एक उपयुक्त समापन है: कपिल द्वारा वर्णित मार्ग केवल संसार के त्याग की ही नहीं अपितु एक ऐसे मन की भी अपेक्षा करता है जो सूर्य की ओर इतनी पूर्णता से मुड़ चुका हो कि जल पर सुन्दर रूप से नाचता हुआ प्रकाश भी उसे अब मोहित न कर सके।

सन्दर्भ

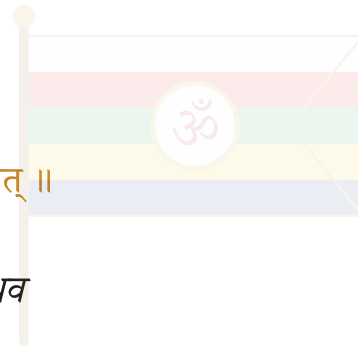
- मूल स्रोत: श्रीमद्भागवत महापुराण (भागवत पुराण), गीता प्रेस, गोरखपुर — अंग्रेज़ी सम्पूर्ण संस्करण, तृतीय स्कन्ध, सत्ताईसवाँ प्रवचन, “पदार्थ और आत्मा के भेद-ज्ञान द्वारा मुक्ति कैसे प्राप्त हो?”
- श्रृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम — श्रीमद्भागवत महापुराण के माध्यम से अध्याय-दर-अध्याय एक भक्तिपूर्ण यात्रा
- आध्यात्मिक मार्गदर्शन में प्रस्तुत: पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।



॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव



ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-canto-3-chapter-27-matter-spirit-differentiation-hi.html

श्रीमद्भागवतम् विज़डम • कल्कि अवतार इंटरनेशनल • बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट